

गोचर का प्रसाद बांटता लापोड़िया



गोचर का प्रसाद बांटता

लापोडिया



ग्राम विकास नवयुवक मंडल
लापोडिया



देवसागर की पाल पर
छतरी के साथ पनघट

आलेख	: अनुपम मिश्र
संयोजन	: लक्ष्मण सिंह, जगवीर सिंह
चित्र	: गांधी शांति प्रतिष्ठान, नई दिल्ली तथा ग्राम विकास नवयुवक मंडल, लापोड़िया
प्रथम संस्करण	: वर्ष 2004
प्रकाशक	: ग्राम विकास नवयुवक मंडल, लापोड़िया, दूदू जिला जयपुर, राजस्थान- 303 008
आर्थिक सहयोग	: एस.डी.सी., इन्टर कोऑपरेशन, परियोजना समन्वयन कार्यालय, जयपुर, राजस्थान
मूल्य	: 75 रुपए
मुद्रक	: सिस्टम्स विज़न, नई दिल्ली

सन् 2004: जयपुर जिले के एक छोटे से गांव लापोड़िया के लिए इस तारीख, इस सन् का मतलब है 4 और 2 यानि 6 साल का अकाल। आसपास के बहुत सारे गांव इस लम्बे अकाल में टूट चुके हैं, लेकिन लापोड़िया आज भी अपना सिर, माथा उठाये मजबूती से खड़ा हुआ है। लापोड़िया का माथा घमंड के बदले विनम्र दिखता है। उसने 6 साल के अकाल से लड़ने के बदले उसके साथ जीने का तरीका खोजने का प्रयत्न किया है। इस लम्बी यात्रा ने लापोड़िया गांव को लापोड़िया की जमीन में छिपी जड़ों तक पहुंचाया है। इन जड़ों ने ऊपर के अकाल को भूल कर जमीन के भीतर छिपे पानी को पहचानने का मेहनती काम किया है और इस मेहनत ने आज 6 साल के अकाल के बाद भी लापोड़िया को अपने पसीने से सींच कर हरा-भरा बनाया है।

कोई भी समाज शून्य में जीवित नहीं रह सकता। उसे अपने लोगों, अपने पशुओं, अपनी जमीन, अपने पेड़ पौधों, अपने कुएं, अपने तालाबों, अपने खेतों के लिए कोई न कोई ऐसी व्यवस्था बनानी पड़ती है, जो समयसिद्ध और स्वयंसिद्ध हो। काल के किसी खंड विशेष में समाज के सभी सदस्यों के साथ मिल-जुलकर जो व्यवस्था बनती है, उसे फिर सभी सदस्य मिल-जुलकर पाल-पोसकर बड़ा करते हैं और मजबूत बनाते हैं। अपने ऊपर खुद लगाया हुआ यह अनुशासन एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को सौंपा जाता है। एक पीढ़ी अपनी उम्र पूरी करे, उससे पहले वैसी ही परिपक्व पीढ़ी फिर सामने आ जाती है, इस धरोहर की रखवाली करने — तब समाज का जीवन बिना रुके, अबाध गति से चलता रहता है।

पिछले दो सौ वर्षों की उथल-पुथल ने समाज को चलाने वाले इन नियमों को, अनुशासन को काफी हद तक तोड़ा था। समाज को जो चीजें टिकाती थीं, संचालित करती थीं, उनकी प्रतिष्ठा को इस दौर ने नष्ट किया। पुरानी व्यवस्थायें टूट गईं, लेकिन इनके बदले कोई नई कारगर व्यवस्थायें उनकी जगह नहीं ले पायीं।



एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को सौंपा गया अनुशासन





4

लापोड़िया कोई अनोखा गांव नहीं था। इसीलिए वह भी इस उथल-पुथल के दौर में, इस आंधी के सामने अपने पैर जमाकर खड़ा नहीं रह सका था। अन्य दूसरे गांव की तरह वह भी साधनों की गरीबी, लाचारी के आगे माथा झुका चुका था।



अपनी जड़ों को पहचानना

लेकिन आज लापोड़िया का माथा फिर ऊंचा हुआ है। अपनी जड़ों को पहचानने, उनको तलाशने की यह यात्रा बहुत लंबी रही है। लेकिन प्रकृति में कोई भी काम बिना धीरज के फल नहीं देता है। बहुत पहले लापोड़िया गांव टूट चुका था, उसके खेत उजड़ गये थे, उसका गोचर सूख गया था। गोचर पर यहां वहां कब्जे हो चले थे और उसके दो पुराने तालाब भी पाल टूटने के कारण नष्ट हो गये थे। लापोड़िया के लोगों ने इस बुरे दौर में गांव से 80 किलोमीटर दूर जयपुर जैसे शहर में धीरे-धीरे पलायन कर अपने को बचाने का प्रयत्न किया था। कभी जो परिवार इस पूरे गांव की व्यवस्था संभालता था, इस बुरे समय में उसके सबसे अच्छे सदस्य भी लापोड़िया छोड़कर कहीं और नौकरी करने चले गये थे। इन्हीं में एक थे श्री लक्ष्मण सिंह। गांव के ठिकानेदार, ठाकुर परिवार में जन्मे लक्ष्मण सिंह तब भी आदर के साथ 'बनाजी' कहलाते थे। उजड़े गांव के 'बनाजी' भी उखड़कर यहां से दूर चले गये थे।

दीवार पर बना नक्शा
आज लापोड़िया के
मन में समा गया है



लेकिन लापोड़िया गांव को 'बनाजी' से कोई बड़ा काम लेना था। इसीलिए बनाजी सन् 1988 में इसी प्रदेश के अलवर जिले में काम प्रारंभ कर रही संस्था तरुण भारत संघ में जा पहुंचे। यहां आने से पहले वे थोड़े समय के लिए भारत सरकार के खेल और युवा मंत्रालय द्वारा चलाये जा रहे नेहरू युवा केन्द्र के कामों से भी जुड़े रहे थे। उस माध्यम से अपने गांव में शायद बिना ज्यादा कुछ सोचे उन्होंने गांव के युवकों को संगठित कर 'ग्राम विकास नवयुवक मंडल' की स्थापना भी कर दी थी। ऐसे नवयुवक मंडलों की कोई कमी नहीं थी और उनसे होने वाला काम भी कुछ नया नहीं कर पाया था। फिर भी सन् 1984 से पहले के दौर में लक्ष्मण जी ने युवकों को संगठित कर श्रमदान के माध्यम से लापोड़िया के अलावा आसपास के 10 गांव में कुछ काम किये थे और कभी स्कूल न जा सकने वाले बच्चों के लिए एक स्कूल भी चलाया था।

तरुण भारत संघ में लक्ष्मण सिंह ने राजेन्द्र सिंह जी के साथ काम करते हुए अकाल से उजड़े गांव में पानी का छोर पकड़कर जीवन की खुशी लाने का रहस्य जानना शुरू किया। लेकिन फिर उनको लगा कि इस रहस्य की बाकी परतें खोलने का प्रयोग उन्हें अपने उजड़े गांव में ही लौटकर करना चाहिए। लापोड़िया के 'बनाजी' यानि लक्ष्मण सिंह वापिस लापोड़िया लौटे। उनके पीछे धीरे-धीरे लापोड़िया का पुराना वैभव भी लौटने लगा— वह वैभव जो यहां की कुछ पीढ़ियों की तरह बाहर पलायन कर गया था।



धरती की पूजा

गांव छोड़ने से पहले लक्ष्मण सिंह जी ने गांव के युवकों के लिए खेलकूद के माध्यम से जो साधारण संगठन बनाया था, उसी संगठन को फिर से आधार बनाकर उन्होंने ग्राम सेवा और ग्राम विकास के पिछले छूटे हुए कामों को उठाना शुरू किया। 1984 में भी ऐसे कुछ काम शुरू कर के ही वे गांव से बाहर गये थे। इन कामों को करने के लिए कोई पैसा या बजट नहीं था। सार्वजनिक काम की कोई विशेष समझ भी तब नहीं रही होगी। जो काम लोगों ने तब करने बंद कर दिये थे, उन्हीं को धीरे-धीरे फिर से शुरू करने का वातावरण बनाना था। इसमें गांव के पशुओं की सेवा के लिए पीने का पानी जुटाना, खेती करना भी शामिल था। कभी वे गांव के उपेक्षित चौक से सफाई शुरू करते, तो कभी पूरे दिन गांव के इस कोने से उस कोने तक बगरा हुआ गोबर उठाते और फिर उसे रात को खेतों में डालते, कचरे को खाद में बदलते थे। इस काम में उनके मित्र श्री रामअवतार कुमावत भी साथ थे। ये दोनों युवक रोज गांव के फूट चुके बड़े तालाब को देखते, लेकिन इसे ठीक कैसे करना है, यह उनकी समझ और क्षमता से बाहर की बात लगती। लेकिन फिर 1982 में एक दिन अचानक इन दोनों ने





अपने कुदाल फावड़े उठाये और लग गये बड़े तालाब को ठीक करने। कितने बरस लगते उसे ठीक करने में, यह उन्हें नहीं मालूम था। लोगों ने उन्हें रोका और समझाने की कोशिश की कि इस तरीके से कुछ होने नहीं वाला। लेकिन तभी गांव के प्रतिष्ठित पुजारी स्वामी सियाराम जी भी धरती की इस पूजा में शामिल हुए। फिर श्री श्योकरण बैरवा भी साथ हो गये। चारों लोग मिलकर दिन भर मिट्टी खोदते और एक दो पीढ़ी से टूटे पड़े तालाब की पाल पर एक-एक टोकरी मिट्टी डालकर धीरे-धीरे पाल ऊपर उठाने लगे। फिर कुछ दिन बाद इनकी मेहनत और धीरज देखकर लापोड़िया के 15-20 और लोग भी साथ हो गये। एक से दो और अब दो से बीस लोगों के हाथ लगे तो पहली बार इन सबने अपना दिमाग भी लगाया। एक बैठक हुई और इसमें तय किया गया कि यह गांव का काम है, तो पूरे गांव को बुलाना चाहिए।

गांव के घरों की जिम्मेदारी बांटी गयी। सब मिलकर सबका काम करें— ऐसी कड़ी जो टूट गई थी, अब फिर से जुड़ गयी थी। गरमी के दो महीनों में सबने मिलकर बड़े तालाब की टूटी पाल को सुधारा। लेकिन प्रकृति शायद अभी लापोड़िया की परीक्षा लेना चाहती थी।

देवसागर की पाल पर
हाथ में रोली-मोली
लेकर तालाबों की
रखवाली की शपथ
लेता पूरा गांव

पहली बरसात में ही तालाब फिर टूट गया। लेकिन लापोड़िया में वर्षों बाद उभर रहे संगठन ने धीरज नहीं खोया। लाउडस्पीकर से आवाज देकर पूरे गांव को इकट्ठा किया और मिट्टी से भरी बोरियां डालकर टूटी हुई पाल को किसी तरह संभाल लिया। आने वाले वर्षों में तरुण भारत संघ ने इस बड़े तालाब को ठीक



करने में मदद दी। और तब दस वर्ष की तपस्या के बाद लापोड़िया को बड़े तालाब का फिर से वरदान मिला। तालाब में इतना पानी रुका कि उसके नीचे के खेतों से धीरे-धीरे बहुत से परिवारों को सुधरती खेती से कुछ कहने लायक लाभ भी मिलने लगा। उस समय गांव के 100 बीघा, 100 बीगोड़ी में सिंचाई उपलब्ध होने लगी थी।



छूटे हुए छोर पकड़ना

इसी बीच लक्ष्मण जी ने गांधी शांति प्रतिष्ठान से प्रकाशित 'आज भी खरे हैं तालाब' पुस्तक पढ़ी। इसे उन्होंने अपने अन्य साथियों को भी पढ़ाया। सभी को लगा कि इसमें जिन परंपराओं का वर्णन है, वे उनकी अपनी परंपराएं रही हैं। इसलिए उन छूटे हुए छोरों को फिर से अपने गांव में मजबूती से अपनाना चाहिए।

बड़े तालाब को सुधारने के बाद फिर गांव में उससे पहले बने दो छोटे तालाबों को भी सुधारने का काम हाथ में लिया। तीनों तालाबों ने यहां होने वाली वर्षा को अपने खजाने में भरना शुरू किया और फिर उसे गांव के कुओं के माध्यम से साल भर तक उपयोग में लाने का रास्ता खोला।

इन तीनों तालाबों ने अपने में पानी समेट कर गांव में सुख बांटने का जो रास्ता खोला था उसके प्रति गांव ने अपना आभार भी जताया। उस पुस्तक में वर्णित तालाबों के नामकरण की परंपरा को सबसे पहले जीवित किया गया। तीनों तालाबों के गुण और स्वभाव को देखते हुए एक सादे और भव्य समारोह में इनका नामकरण किया गया। पहले तालाब का नाम रखा गया देवसागर, दूसरे का नाम फूलसागर और तीसरे का नाम अन्नसागर। पहले दो तालाबों से समाज के लिए पानी न लेने का नियम बनाया गया। फूलसागर के आसपास अच्छे पेड़-पौधे जैसे सफेद आकड़ा, बेलपत्र के पौधे और बगीची आदि लगाई गईं। देवसागर की पाल पर छतरी, पनघट, पक्षियों के लिए चुगने का स्थान और धर्मशाला आदि स्थापित की गईं। तीसरे सबसे बड़े तालाब से गांव की जरूरत के मुताबिक सिंचाई की व्यवस्था फिर से खड़ी की गई। पहले दो तालाबों से अपने लिए नहीं, लेकिन पशु-पक्षियों, पौधों के लिए पानी लेना और अन्नसागर से अपने लिए पानी निकालना तय किया गया। अपने उपकार और परोपकार का एक सुन्दर ढांचा फिर खड़ा हो सका।

गांव में खेती की परिस्थिति कुछ सुधर चली थी, लेकिन किसानों केवल खेती पर नहीं टिकती। पशुपालन उसका एक मजबूत आधार होता है। लापोड़िया का गोचर पूरी तरह से उजड़ चुका था। देखरेख के अभाव में गांव की यह सार्वजनिक भूमि अब किसी की नहीं रही थी। गोचर की घास तो छोड़िये, वहां के पेड़ भी कट चले थे।





गोचर की सुध

गांव की जो सार्वजनिक बुद्धि तालाबों को सुधारने में लगी थी, अब उस बुद्धि ने गोचर को भी सुधारने का निश्चय किया। फिर से छोटी-छोटी बैठकें शुरू हुईं, कुछ मोटे-मोटे निर्णय लिये गये। अब गोचर में कोई कुल्हाड़ी लेकर नहीं जायेगा, घास नहीं खोदी जायेगी। वन्य जीवों को नहीं मारना, उनका पूरा संरक्षण और गोचर में उनके लिए पानी की व्यवस्था और घोंसले और अण्डे देने की जगहों को बचाने का भी निर्णय लिया गया। बड़े तालाब अन्नसागर में तालाब के बीच में बने लाखेटा को भी इन्हीं सब कारणों से सुरक्षित रखने का मन बनाया गया। गोचर के पुराने वैभव को याद किया गया। किसी बुजुर्ग ने बताया कि एक समय में इस गोचर में इतने पेड़ थे कि इन पर इस कोने से उस कोने तक गांव के युवक पेड़ों पर चलने की प्रतियोगिता में भाग लेते थे।

घास और उपयोगी पेड़ों से ढके ऐसे गोचर की बात, तब फिर से एक नया सपना बनकर सामने आई। लेकिन इसे पूरा करना तालाब के काम से कहीं ज्यादा कठिन था।

गोचर को सुधारने का संकल्प था, उसका अनुभव किसी के पास नहीं था। इसीलिए बैठकों में तय हुआ कि इस बारे में जहां कहीं से भी कुछ सीखा जा सकता हो, उसे सीखकर लापोड़िया में उतारना चाहिए।

उन दिनों सरकार के ग्रामीण विकास कार्यक्रमों में गोचर की कहीं कोई जगह नहीं थी। जो जमीन सार्वजनिक उपयोग की थी अब वह केवल ऐसी सरकारी जमीन मानी जाती थी, जिस पर चाहे जब, चाहे जो कोई कब्जा कर ले। गोचर को फिर से ठीक किया जा सकता है— ऐसा अनुभव कहीं था नहीं। फिर भी लापोड़िया के नवयुवक आसपास जानकारी बटोरने के लिए घूमते रहे। कंटूर बंडिंग का एक तरीका उन्हें बताया गया। लापोड़िया के लोग कंटूर बंडिंग का काम देखने गए।

अजमेर के पास तिहरी नामक एक गांव में विश्व बैंक जैसी प्रसिद्ध संस्था की मदद से भारी पैसा बहाकर पांच साल तक एक गोचर को बंद रखा गया और यहां पशुओं को नहीं जाने दिया। गांव में खूब तनाव रहा, लड़ाई दंगे हुए और बाद में तो लोगों ने गोचर की सीमा पर सुरक्षा के लिए बनी खाई को पाटकर अपने पशु घुसा दिये थे। सामाजिक इंजीनियरिंग की इन कमियों को फिलहाल भूल भी जायें तो यहां तकनीकी रूप से जो काम किया था, उसे खुद प्रकृति भी याद नहीं रखना चाहती थी। पैसा खूब था, इसीलिए सारा काम धीरज और हाथ के बदले ट्रेक्टर से किया गया था। डेढ़ फुट की ऊंचाई के कंटूर ट्रेक्टर के काम के कारण भीतर से पोले थे। पहली बरसात में ही ये पानी के दाब से दबकर 6 इंच के हो

गये और फिर तेज बहता पानी इनको तोड़कर गोचर विकास का सारा काम अपने साथ बहाकर ले गया था।

इसी तरह के एक और काम में गोचर में ट्रेंच या खाई बनाकर नमी लाने का प्रयत्न किया गया था। यहां भी सफलता हाथ नहीं आयी। इसका कारण यह समझ में आया कि बरसात के दौरान खाई में पूरा पानी भर जाता है। ऐसे में उसमें घास नहीं पनप पाती। फिर गर्मी के दिनों में यह पानी तेजी से उड़ने लगता है और खाई की गहराई से जुड़ी भूमि की परतों में समाई जा चुकी नमी भी इस तेज तापमान के दौरान वापस तेजी से सूखने लगती है। यह प्रयोग यदि सफल भी होता, तो लापोड़िया को उसमें कुछ अन्य कमियां भी दिखी थीं। इस काम के लिए काफी समय तक गोचर को बंद करके रखना पड़ता। फिर जो कंटूर बनाये गये थे वे गोचर से आसपास के गांवों से निकलने वाले रास्तों के बीच आते थे। अपना गांव इस रुकावट को स्वीकार भी कर लेता तो दूसरे गांव वाले भला उसे क्यों मानते? फिर कुछ समय के लिए गोचर बंद करते तो गांव के पशु कहाँ जाते?



बरसों की प्यास

ऐसे बहुत से प्रश्नों का उत्तर न बैठकों में मिला और न आसपास देखे गये कामों से मिला। लेकिन लापोड़िया के लोग उजड़े पड़े गोचर के चक्कर लगाते रहे। ऐसे ही किसी चक्कर में श्री लक्ष्मण सिंह को सूझा कि गोचर में बरसने वाले पानी को वहीं के वहीं भीतर डालकर इसकी बरसों पुरानी प्यास बुझानी चाहिए और यह काम कुछ इस ढंग से हो सके कि न पशु रुकें और न रास्ता। गोचर खुला रखा जाये, पानी इस प्रकार से रोका जाये कि गांव का भूमिगत जल भी बढ़े और फिर नमी बढ़ने से गोचर हरा भरा बने।



खेती का अनुभव गोचर में

गोचर की सार संभाल करने की इच्छा रखने वाले इन लोगों के पास अपने खेतों में पानी के प्रबंध का, सिंचाई का, नमी फैलाने का अनुभव तो पीढ़ियों से था। लेकिन गोचर खेत नहीं है। इसमें घास, झाड़ी, पेड़-पौधे पनपाने के लिए अब जो कुछ भी तरीका अपनाना था, वह उनके हाथ में नहीं था। इसका एक कारण तो यह था कि गोचर में इससे पहले ऐसा कुछ करने की जरूरत नहीं पड़ी थी। उन्हें गोचर पीढ़ियों से हरा भरा मिला था। लेकिन पिछले दौर में यह सब उजड़ गया था, उसमें कोई नई युक्ति लगाये बिना पानी ठहरने वाला नहीं था।





10

किसानी के अनुभव ने इतना तो बता ही दिया था कि गोचर में पानी को ठहराना जरूरी नहीं है। पानी का संग्रह तालाब में होता है। यहां तो वर्षा के दौरान तुरंत बह जाने वाले पानी को थोड़ी देर के लिए थामना है। पूरा पानी रोक लें तो घास अच्छी नहीं होती। प्रकृति को इतनी नमी भर चाहिए कि वह गोचर भूमि में घास की कोमल जड़ें जमा सके। एक बार घास जम जाये तो उसे बाद की वर्षा में फिर इतना पानी, इतनी नमी चाहिए कि वह सूरज के प्रकाश के साथ इस नमी को जोड़कर घास को और ऊपर उठा सके।



चौका लगा हाथ

गोचर में क्या नहीं करना चाहिए और क्या-क्या करना है — इन दोनों का पूरा ध्यान रखकर 'बनाजी' ने पहली बार चौका शब्द खोज निकाला। लेकिन जब इस चौका पद्धति को गोचर में उतारा तो चौके की चार भुजाओं में से एक भुजा हटा दी। अब यह चौका एक बड़ी भुजा और दो छोटी भुजाओं का रूप ले बैठा। संभवतः गोचर विकास के इतिहास में यह 'बनाजी' की देन की तरह दर्ज होने लायक घटना घटी थी। इस ढांचे में अब तीन भुजायें और दो कोने थे। लेकिन वर्षा में जब पानी भरेगा तो यह एक लंबी आयत यानि चार कोनों का रूप ले लेगा। इसीलिए नाम चौका ही रहा।

मन का नक्शा
जमीन पर





उजड़ चुके गोचर को
फिर से हरा-भरा करने
का दृढ़ संकल्प

उजड़ चुके गोचर को फिर से ठीक करने के लिए दृढ़ संकल्प के साथ-साथ पूरी सावधानी बरती गयी। ये युवक गांव के बुजुर्ग लोगों के साथ पूरे गोचर में दो-चार बार घूमे। इससे पता चला कि ढाल किस तरफ है, कितना है। फिर देखना था कि सारे गोचर में चौका बन जाने के बाद उनमें से बहने वाला पानी निकल कर किस जगह आयेगा। इस अतिरिक्त पानी को वहां किसी तालाब या नाडी में डालना था। जहां पशु चरें, वहीं पास में पानी चाहिए। यदि पानी दूर हुआ तो दोपहर को पानी पीने दूर जाना पड़ेगा और फिर दुबारा वापसी कठिन होगी।

बुजुर्ग लोगों के साथ गोचर घूमने से ये सब बातें अच्छी तरह से ध्यान आ गई थीं। तब फिर कागज पर एक कच्चा नक्शा बनाया गया। फिर गोचर में काम शुरू करने से पहले इस नक्शे के अनुसार जमीन पर भी निशान लगाये गए। कहां से कितनी मिट्टी उठेगी और कहां कैसे पड़ेगी, इसे देखा परखा गया। खुदाई और पटकाई वाली जगह में कोई पांच फुट का अन्तर छोड़ा, ताकि पटकाई से बनी मेड़ या दीवार पर पानी का दबाव न पड़े और यहां की मिट्टी भी धीरे-धीरे खिसककर खुदाई वाली चौकड़ी में वापस न भर जाय। अन्तर और अन्तरा शब्द सभी ने सुना है लेकिन यहां अन्तरा के साथ सन्तरा शब्द भी वापस आया है। अन्तरा चौकड़ी और मेड़ के बीच का अन्तर है और सन्तरा खुदाई की जगहों के बीच छोड़ी गई दूरी को कहते हैं। इसका पूरा ध्यान रखा गया।



इतना सब हो जाने के बाद चौके की बारी आयी। इसे बनाने से पहले सबके साथ बातचीत की गई। सबके मन में कागज और जमीन पर खींची रेखाएं, नक्शा ठीक से बसाया गया।



घास से पहले राजनीति पनपी

आज हमारे गांव जिस तरह से टूट चुके हैं, उनमें चौके के माध्यम से पूरे गांव को, किसानों को, पशुपालकों को जोड़ने का काम चुटकी भर में हो जाता, ऐसा मान लेना बहुत भोलापन होगा। इस काम को शुरू करते ही घास पनपने से पहले गांव में गंदी और स्वार्थी राजनीति पनप उठी। पूरे गांव की एकता को तोड़ते हुए कुछ लोग उठ खड़े हुए। उन्होंने चौके का विरोध किया। अफवाह फैल गयी कि संस्था के लोग गोचर पर कब्जा करना चाहते हैं। बचे-खुचे पेड़ों को न काटने का जो संकल्प गांव ने लिया था, उसी पर इन लोगों ने कुल्हाड़ी मार दी। चुने हुए जन-प्रतिनिधि, गांव की पंचायत उनके साथ हो गयी। पंचायत ने 16 सितम्बर 1995 को मात्र दो हजार रुपये में पूरे गोचर में कटाई का ठेका उठा दिया। यह भी घोषणा उन्होंने की कि यदि गोचर को सुधारना है, उसका विकास करना है तो यह काम ग्राम पंचायत ही करेगी।

लेकिन सत्य गांव के साथ था, संस्था के साथ था, इसीलिए इस बेहद अप्रिय प्रसंग में लोगों ने सत्य का आग्रह भी जता दिया— गोचर में सत्याग्रह शुरू हुआ। ठंड के दिन थे। दिनभर स्त्री-पुरुष पूरे गोचर में घूम-घूम कर उसकी रखवाली करने लगे। लेकिन दिन की रखवाली पर्याप्त नहीं हुई। तब गोचर बचाने वाले लोग ठंड की रात में अपने घरों को छोड़कर रजाई और कंबल लेकर गोचर में सोये। भविष्य में पूरा गांव चैन की नींद सो सके, इसके लिए 1995 की ठंड में गोचर के ये रखवाले खुले आकाश के नीचे बैठे रहे और बारी-बारी से पहरा देते रहे। बड़ी उमर के लोगों के साथ युवा, महिलायें और परिवार के छोटे बेटे-बेटियों ने भी अपने दादा, काका, पिता और मां का साथ दिया। फिर पुलिस आयी, कलेक्टर आये, छोटे-बड़े अधिकारी, पटवारी आए। सबने दोनों पक्षों के साथ बैठकर सारी परिस्थिति समझी। गोचर में पेड़ काटने का ठेका निरस्त किया गया। उसके बदले तय हुआ कि गोचर के लिए नुक्सानदेह पेड़ विलायती बबूल ही काटा जायेगा। धरती का अच्छा काम किया तो पुण्य मिला और गोचर बच गया।

इस बैठक में निर्णय लिया गया कि गोचर पर से कब्जे भी हटेंगे। पटवारी ज़रीब लेकर इस काम में आगे आये। गांव के नक्शे के आधार पर पूरी नपाई हुई और इसमें न रिश्तों का ध्यान रखा गया और न दोस्ती का। लक्ष्मणजी ने पूरे प्रेम के साथ, लेकिन पूरी दृढ़ता से बता दिया था कि दोस्ती सिर्फ गोचर से है, क्योंकि इस गोचर से पूरे गांव की खुशहाली जुड़ी है।





बरसों का कब्जा छुड़ाना आसान काम नहीं होता। जिसका कब्जा हटाया जाता है, उसके मन में बहुत कड़वाहट आ जाती है। इस कड़वाहट को दूर करने के लिए गोचर में ही पूरे गांव का सामूहिक भोज रखा गया। पूरी के साथ सीरा, हलवा परोसा गया। गांव के 200 घरों से कोई 400 लोगों ने भोजन किया। सहभोज में परोसे गए मीठे सीरे ने सारी कड़वाहट मिटा दी।



विलायती बबूल हटाने का देसी अभियान

इसी भोज के बाद गोचर से विलायती बबूल हटाने का काम शुरू हुआ। सभी लोग जानते हैं कि गोचर गांव के पशुओं के चरने की जगह है। लेकिन पिछले दौर में गोचर के पेड़ कट गये थे, घास खोद ली गयी थी। फिर इस तरह की गलती को छिपाने के लिए सूखे और उजड़े गोचरों में यहां वहां हरा रंग बिखेरने के लिए, हरियाली दिखाने के लिए कुछ समय पहले विलायती बबूल का रोपण किया गया था। यह लापोड़िया के गोचर में भी आ जमा था। इसमें कोई शक नहीं कि यह जल्दी बढ़ता है, लेकिन कोई भी पशु इसे खाता नहीं है। फिर इसके आसपास कोई दूसरा उपयोगी पौधा भी नहीं पनप पाता। हर मौसम में इसकी फलियां चारों तरफ बिखरती हैं, और विलायती बबूल का साम्राज्य बढ़ता जाता है और पूरे गोचर को अपना गुलाम बना लेता है। इसीलिए इस सामूहिक भोज के बाद विलायती बबूल को पूरे गोचर से हटाने का सुन्दर देसी अभियान भी प्रारंभ हुआ।

गांव में दूध की
नदी गोचर से बहेगी





गांव के लोगों ने पूरे गोचर में घूम कर विलायती बबूल की गिनती की। फिर उस गिनती को गांव के कुल परिवारों में बांटा। कोई छः सौ पेड़-पौधे विलायती बबूल के थे और गांव में 200 परिवार थे। तय किया गया कि प्रति परिवार तीन विलायती बबूल जड़ समेत उखाड़ना है। इस पेड़-झाड़ी का जरा-सा हिस्सा भी छूट जाये तो इसे फिर से बढ़ने में देर नहीं लगती। इसलिए बिना देरी किये अगले छः महीने में गोचर से इसे हटाना तय हुआ। जड़ समेत खोदने के बाद जो गड्ढे निकले, उनमें इन्हीं परिवारों ने देसी बबूल, बेर, तरह-तरह की उपयोगी घास के बीजों का रोपण किया।

शुरू के दिनों में चौका बनाने के बाद उत्साह में बाहर से पौधे और तरह-तरह की घास के बीज भी लाकर लगाये गये। लेकिन इनके परिणाम बहुत अच्छे नहीं निकले। गोचर में जितना जरूरी था उतना पानी रोका गया था। बाकी अतिरिक्त पानी चौकों को बिना तोड़े आगे बहता रहा था। इसीलिए भले ही बाहर से लाकर बोये गये बीज अंकुरित नहीं हुए, लेकिन बिना बोये बीजों ने तर हुई गोचर की भूमि में अपना सिर उठाकर इसे हरा-भरा करना शुरू कर दिया। वर्षा के दिनों में पूरे गोचर में जैसे पानी चलता, उसके सूखते ही नमी वाली उस जगह पर प्रकृति तरह-तरह की घास से हरे रंग की जाजम, दरी बिछा देती। पिछली कुछ पीढ़ियों ने घास के जो प्रकार खो दिये थे, उनकी स्मृति और बोलियों में घास और झाड़ियों के जो नाम गायब हो गये थे, वे एक-एक कर लापोड़िया के गोचर में लौटने

गोचर का प्रसाद



लगे। विलायती बबूल हटा दिया गया, देसी बबूल बोया नहीं गया था, लेकिन नमी मिलते ही पुरानी दबी जड़ों में प्राण आ गये और जगह-जगह उपयोगी घास, पौधे और झाड़ियां बढ़ने लगीं। प्रकृति की स्मृति में यह मिटा नहीं था, इसीलिए फिर लापोड़िया के समाज की स्मृति में भी ये नाम एक-एक करके वापिस आने लगे।



दूध उत्पादक
सहकारी समिति, लापोड़िया



संकल्प का विस्तार

अपने गोचर को सुधारने के इस संकल्प को लापोड़िया ने कर्म में बदला और फिर उसका विस्तार भी किया। आसपास के सभी गांव में युवा मंडल बनाए गये। सभी से सम्पर्क किया गया और गोचर, तालाब, पेड़ पौधों और वन्य जीवों को बचाने के लिए बैठकें की गईं, पद्यात्राएं निकाली गईं। आस पड़ौस के गांव से शुरू हुआ यह काम बाद में और आगे बढ़कर 84 गांव में फैल गया। देवउठनी ग्यारस से तालाब और गोचर पूजन का काम प्रारंभ हो जाता है और फिर जगह-जगह ऐसी पद्यात्राएं, जन-जागरण के लिए निकल पड़ती हैं। सब का काम सबको साथ लिए बिना सध नहीं सकता। इसलिए गोचर आन्दोलन में हर जगह इस बात का ध्यान रखा गया है कि कोई छूट न जाय। आज यदि कोई स्वार्थवश इस काम में शामिल नहीं हो रहा है तो यहां पूरा धीरज रखा गया है। उसे समझाया गया है कि उसका भी हित सार्वजनिक हित से ही जुड़ा हुआ है।

लापोड़िया वापस लौटें। शुरू से ही पूरे गांव को गोचर से जोड़ने की चाल और व्यवस्था बनाई गई। अभी पेड़ नहीं थे, लेकिन छोटी छोटी झाड़ियां मजबूत होने लगी थीं, उन्हें और अधिक सहारा देने के लिए वातावरण बनाया जाना था। इसीलिए इन झाड़ियों की रखवाली के लिए कानून या सख्ती के बदले प्रेम और श्रद्धा का सहारा लिया गया। लापोड़िया गांव के स्त्री-पुरुषों ने इन छोटी-छोटी झाड़ियों को राखी बांधी और इनकी रक्षा का वचन लिया। शायद इन झाड़ियों ने भी मन ही मन लापोड़िया की रक्षा करने का संकल्प ले लिया था।

तभी तो आज 6 साल के अकाल के बाद भी लापोड़िया में इतना चारा है, इतना हरा चारा है, पशु इतने प्रसन्न हैं कि यहां अकाल के बीच में भी दूध की बड़ी न सही, लेकिन एक छोटी नदी तो बह ही रही है। आज लापोड़िया में





प्रतिदिन 40 केन यानि कोई 1600 लीटर दूध हो रहा है। घर परिवार और बच्चों की जरूरतें पूरी करने के बाद ही दूध की बिक्री की जाती है। जयपुर डेयरी यहां से हर महीने ढाई लाख रुपए का दूध खरीद रही है। इस तरह आज लापोड़िया हर वर्ष लगभग 30 लाख रुपए का दूध पैदा कर रहा है। और यह दूध गांव में लौटी हरियाली से है।

उजड़े हुए गोचर में आज चौका पद्धति के कारण न जाने कितने तरह की घास और तरह-तरह के पौधे वापिस आये हैं। इन सबकी गोचर में अपनी-अपनी विशेष जगह तय हो रही है। ऐसा लगता है कि प्रकृति इनके स्थान का आरक्षण करती चल रही है। कहीं पसरकटेली है, तो कहीं ऊंटकटेला, कहीं खरगोश चूंटी हैं, तो कहीं गंदेल और लापणा तो कहीं झेरणा। अब गोचर में लोग प्रवेश करते हैं तो उत्सुकता के साथ निकल रही हर कोंपल को, पत्ती को, अंकुर को पहचानने की, नाम बताने की या नाम पूछने की कोशिश करते हैं। लापोड़िया का गोचर वनस्पति शास्त्र की एक नई पाठशाला बन गया है। आपस की बातचीत में किसान, पशुपालक और ग्वालों की टोली में नये नामों को पहचानने और खोजने की होड़-सी लग गयी है। कोई बतायेगा कि इस घास का क्या नाम है, तो कोई उसके गुण और लाभ करेगा, तो कोई सबके आगे बढ़कर उस घास के स्वभाव का ऐसा वर्णन करेगा — जैसे वह उसके परिवार का सदस्य हो — “गांठ-गठीली घास कूदते चलती है।” यहां अब पुरानी किस्मों के इतने सारे नाम इकट्ठा हो गये हैं कि नये ज़माने के नाम जैसे स्टाइलो, धामन और रिजका पीछे छूट जाते हैं।

घास के साथ-साथ फिर लापोड़िया गांव का ध्यान गोचर और गांव में पेड़ों पर गया है। विलायती बबूल पूरे गांव ने मिलकर गोचर से हटा दिया था। अब प्रकृति को थोड़ी राहत मिली थी, इसीलिए गोचर में नमी पाते ही देसी बबूल, रौंझ, खेजड़ी, कैर, जाल, जहां जो संभव हुआ धीरे-धीरे पनपने लगा। प्रकृति में तेजी

खरगोश और बकरी
की मेंगनी



से बढ़ने वाले पेड़ों की कोई खास जगह नहीं होती। यह धीरज का काम है। इसीलिए लापोड़िया गांव ने अपना धीरज नहीं खोया और जो पेड़ आने लगे थे, उन्हें बचाने और बढ़ने का अवसर देने का वातावरण बनाया। लेकिन इसके लिए पशुओं को रोका नहीं। गांव ने माना कि पशु इस व्यवस्था में शत्रु नहीं हैं। वे मित्र हैं और उनकी मित्रता गोचर को



गोचर में पशु निर्विघ्न चरते हैं और ग्वाले खोड़ाबीसी खेलते हैं

हरा-भरा बनाती है। गाय का गोबर, बकरी और खरगोश की मेंगनी अपने में तरह-तरह की घास और पेड़ों के बीज लिये रहती है। पशु-पक्षी के पेट की रासायनिक क्रिया इनके कठोर कवच को नरम बनाती है और मेंगनी आदि के रूप में इन बीजों के आसपास खाद बांधती है। पूरे गोचर में बिखरी मेंगनी चौके में पानी भरने, बहने और फिर यहां-वहां आने-जाने के कारण अपने-अपने भार को देखते हुए तैरती हैं और उचित मौका देखकर ठहर जाती हैं। फिर नमी और धूप इनके अंकुरण में सहायक बनती है।



अंश से सम्पूर्ण की वापसी

लापोड़िया में गोचर विकास के इन प्रारंभिक कामों के साथ-साथ लोगों का ध्यान गोचर की पूरी व्यवस्था की ओर भी जाने लगा है। गांव पिछले दौर में जिस परंपरा को, जिस ज्ञान को और जिस अनुशासन को खो बैठा था, भुला बैठा था, अब उसका थोड़ा-सा अंश जब वापिस आने लगा, तो उसके सम्पूर्ण रूप, सम्पूर्ण दर्शन की स्मृति भी लौटने लगी है।

आज लापोड़िया में पशुओं की संख्या बढ़ी है। पक्षियों की संख्या भी बढ़ी है और उनकी जातियां भी। इसी तरह वन्य जीवों की भी उपस्थिति दिखने लगी है।





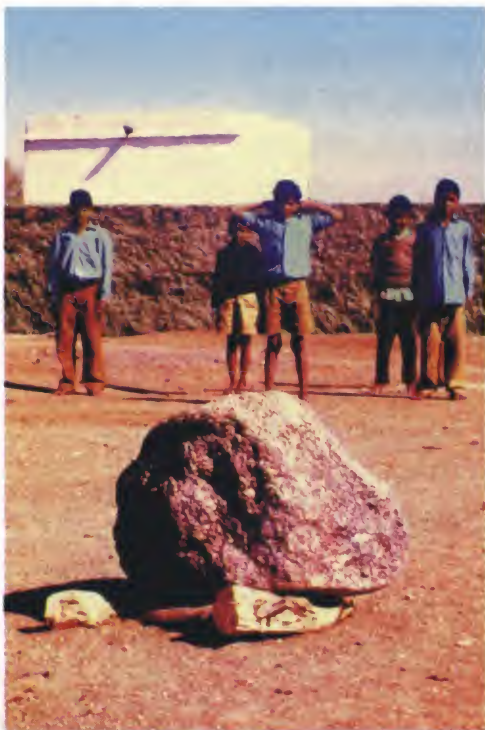
मोर, कोयल, पपीहा, खरगोश, नेवला, जंगली बिल्ली, गिलहरी, झामूसा और तरह-तरह के मित्र कीटपतंगे खेतों और गोचर में सहज मिलने-दिखने लगे हैं। गांव में मकानों पर, दीवारों पर पशुपक्षियों के जो चित्र बनाए जाते थे, आज वे दीवारों से उतर कर गांव में फैल गए हैं।

गांव में अब बेगसा की बात होती है। बेगसा यानि गांव और गोचर के बीच पशुओं के बैठने की, एकत्र होने की या आराम करने की जगह। कुछ क्षेत्रों में बेगसा को गोठान भी कहा जाता है, जो संस्कृत शब्द 'गोस्थान' से बना है। राजस्थान के इन क्षेत्रों में वर्षा कम ही होती है, इसीलिए परंपरा से यहां के किसान खेती के साथ-साथ पशुपालन पर पूरा ध्यान देते रहे हैं। पशु उनके लिए सिर्फ कमाई का साधन नहीं थे। ये उनके सांस्कृतिक और दार्शनिक समाज के जीवंत सदस्य थे। इसीलिए इन्हें यहां से वहां हांक कर नहीं ले जाना है। उसकी पूरी व्यवस्था बनायी गयी थी। 'बेगसा' इसी बड़ी व्यवस्था का एक छोटा-सा अंग था।

प्रायः हर घर में पशु होते थे, लेकिन उस घर के सदस्य पशुओं के साथ खुद गोचर नहीं जा पाते थे। इस जिम्मेदारी को गांव के ग्वाले निभाते थे। हर मुहल्ले और टोले से गोचर में जाने वाले पशुओं का झुंड धीरे-धीरे निकलता। किसी गली से पांच-दस पशु निकलते तो कहीं से बीस-तीस। ये सब गांव से गोचर के रास्ते में गांव के पास बने 'बेगसा' में बिठा दिये जाते। फिर जब सब ग्वाले अपने-अपने पशुओं के साथ आ जाते, तो फिर सब एक साथ गोचर की तरफ बढ़ते।

लेकिन आज जब गांवों में गोचर ही नहीं बचा है, तो किस गांव में बेगसा या गोठान मिल पायेगा? कभी लापोड़िया में बेगसा पैंतीस बीघा में थी, लेकिन फिर धीरे-धीरे गोचर उजड़ा और फिर उसी के साथ बेगसा भी। पुरानी पीढ़ियों ने गांव के पास ही इतनी बड़ी जगह पशु समाज के आराम के लिए छोड़ी थी। लेकिन नई पीढ़ियों को यह कीमती जगह की बर्बादी लगी होगी। इसीलिए इस पर भी कब्जे होते गये। आज जिन पंचायतों के हाथ में गांव के विकास की जिम्मेदारी है, वहां का नेतृत्व इस कीमती जगह को गुमटी, दुकान या हाट-बाजार में बदलने के लिए आतुर है। लेकिन लापोड़िया फिर से 'बेगसा' को भी बचाने का मन बना रहा है।

घांस बाबा





पशु दर्शन का विस्तार

इस पूरी व्यवस्था के विस्तार में जायें, तो समझ में आयेगा कि गांव का हमारा किसान-समाज कितना संगठित था। कहीं-कहीं गांव से गोचर का रास्ता बिल्कुल अलग रखा जाता था। यह लोगों के पैदल चलने या बैलगाड़ी चलाने वाले रास्तों से दूर रहता था। ऐसे रास्तों को कांकड़ की गैली कहा जाता था। ग्वाले हर घर से पशु निकालते और फिर गैली से बेगसा होते हुए गोचर जाते। ग्वालों का पारिश्रमिक पशुओं की गिनती के अनुसार प्रायः अनाज में और कभी-कभी पैसे के रूप में भी मिलता था। इस बंधी आमदनी के अलावा साल भर आने वाले तीज-त्योहारों पर किसान परिवार ग्वालों को कपड़ा, छाता, जूते, अपनी-अपनी हैसियत से देते थे। दीपावली पर ग्वालों के नाच का विशेष महत्व था। लक्ष्मी पूजन आज सबको मालूम है, लेकिन उसी दिन गो-पूजन भी होता था। गोधन से ही लक्ष्मी आती थी। दीपावली की सुबह पूरे गांव को जगाने का काम सुरीले गीत गाकर ग्वाले ही करते थे। गांव में इसी दिन या कहीं-कहीं दशहरे के दिन बैलों को सजाया जाता, उनकी दौड़ होती और कहीं-कहीं बैलों की लड़ाई भी। इन कुछ विशेष दिनों में गाय-बैलों को अलग से पकवान भी बनाकर खिलाये जाते थे।

इन्हीं दिनों मौसम बदलता, फसलें कटतीं और खेत खाली हो जाते थे। तब कई ग्रामीण क्षेत्रों में खाली खेत बैलगाड़ियों की दौड़ का मैदान बन जाते। ऐसे आयोजनों से पहले अलसी और गुड़ के लड्डू, गुड़-दलिया और कहीं-कहीं तो घी भी बैलों को पिलाया जाता था। खेतिहर समाज अपनी नींव बैल और गाय को मानता था और इस पर किसानों का पूरा वैभव खड़ा होता था।

लापोड़िया और उसके आसपास के कई गांव में आज भी बैलों के शक्ति प्रदर्शन के खेल होते हैं। यहां कहीं भी चलते-फिरते आपको एक ऐसा बड़ा सजा हुआ पत्थर पड़ा हुआ दिखे तो समझ लें कि यह घांस बाबा है। यह शब्द पत्थर को घसीटने, घेंसने से बना है। एक विशेष दिन, प्रायः दीपावली के दूसरे दिन गांव के सब परिवार अपने-अपने बैलों की शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए इकट्ठे होते हैं। बैल के पीछे इस पत्थर को बांधा जाता है और वह बैल इसे लेकर कितने दूर जा सकता है— इसकी परीक्षा होती है। जो बैल सबसे अधिक दूरी तय करता है, उसको पुरस्कार मिलता है और फिर साल भर तक उस बैल की और उसके मालिक परिवार की गांव में विशेष हैसियत बनी रहती है।

कल्पना कीजिये उस ढांचे की, जिसमें खेतिहर समाज अपने पशुओं का इतना अधिक ध्यान रखता था। तब आज की तरह दूध का उद्योग नहीं था, डेयरी व्यवस्था नहीं थी, न दूध का संग्रह होता था और न दूध बिकता ही था। दूध की तुक पूत से थी। और दोनों को बेचना अच्छा नहीं माना जाता था। तब इन गांवों में दूध की नदियां कैसे बहती थीं, इस बात को आसानी से समझा जा सकता है।





गोचर: सम्पूर्ण का एक अंश

आज जब गोचर की तरफ फिर से ध्यान जा रहा है, तब इस बात की भी याद दिलाना चाहिए कि हमारे ग्रामीण समाज ने अपने पशुओं की देखरेख के लिए एक सुविचारित ढांचा खड़ा किया था। गोचर उसका एक हिस्सा था।

लापोड़िया का ही इतिहास देखें तो पता चलता है कि यहां लगभग 320 बीघे में गोचर के अलावा इसी से मिलते-जुलते काम के लिए एक छोटा बीड़, एक बड़ा बीड़ और चौइली नामक स्थान सुरक्षित रखा गया था। गोचर में गाय और अन्य छोटे पशु चरने के लिए भेजे जाते थे। वहां के चारे का आकार प्रकार और गुण ऐसे ही पशुओं के शरीर की काठी और उनकी भूमिका के हिसाब से तय किये जाते थे। लेकिन बीड़ में ज्यादा बड़ा और पौष्टिक चारा होता था और इन सब स्थानों का वर्ष भर का ऋतु चक्र या कैलेंडर बना रहता था।

बरसात होते ही पूरे गांव के बैल चौइली में भेजे जाते थे। यहां प्राकृतिक चारा उपलब्ध होता था। पचास बीघे की इस चौइली में किसी एक परिवार के नहीं, जमींदार या ठिकानेदार परिवार के नहीं बल्कि गांव के सभी परिवारों के बैल छोड़े जाते थे। बरसात में उठा यह चारा दीपावली तक थोड़ा कमजोर हो जाता था। उसके बाद चौइली के बैल बीड़ में भेजे जाते और बैलों से खाली हुई चौइली में अब गाय और बकरी की बारी आती। चौइली में चराई पूरी तरह से निःशुल्क थी, लेकिन बीड़ में प्रतीक रूप में, नाम मात्र का शुल्क लिया जाता था और यह राज में जमा होता था। इस तरह जमा की गयी यह राशि इन्हीं स्थानों की देखरेख के मद में खर्च की जाती थी। होली के बाद गरमी का मौसम आने लगता और तब इन इलाकों से चारा काटकर कटी हुई जगह में भी पशुओं को रखा जाता था। इस दौरान लोग अपने-अपने खेतों में भी कुछ चारा लगाकर रखते थे। उस भंडार का उपयोग होता। फिर जुलाई से दीपावली तक गायें गोचर में आ जातीं।

इस पूरी व्यवस्था में हर स्थान को पूरा आराम देने का विशेष ख्याल रखा जाता था। समय का बंटवारा इस तरह से किया जाता कि खुली चराई से पहले उस स्थान विशेष में लगी घास या चारा ठीक से पनप जाये, उसमें फूल और फल यानि बीज आ जायें, नये बीज फिर से गिर जायें जड़ें जम जायें ताकि आज उसके उपयोग के बाद कल उसकी दूसरी फसल अपने आप आ जाये। इन सभी स्थानों में ऋतु चक्र के अनुसार अलग-अलग प्रजाति की घास और चारा सुरक्षित रखा जाता था। गरमी की दोब गरमी में ही फैलती है। लेकिन बरसात में यह नहीं फूटती। सावां घाम नामक चारा बरसात के अच्छे पानी में भी खड़ा रहेगा।



स्वामी भी, सेवक भी

गांव की परंपरा में निजी सम्पत्ति और सार्वजनिक सम्पत्ति का बहुत बारीक

विभाजन किया गया था। सार्वजनिक सम्पत्ति के लिए गांव में चलने वाला शब्द 'शामलात-देह' है। यह फारसी शब्द शामिल और देहात से मिलकर बना है। अर्थ स्पष्ट है— जिसमें पूरा गांव शामिल हो, जिसका स्वामी पूरा गांव हो। शाब्दिक अर्थ के अलावा इसमें यह भावना भी छिपी रहती थी कि इसमें सारा गांव स्वामी तो है ही, लेकिन इसकी रखवाली सारा गांव सेवक की तरह करेगा।

स्वामी और सेवक की भूमिका में किसी तरह की चूक न हो, इसलिए बहुत व्यवस्थित नियम बनाए गये थे। लेकिन इन नियमों पर पहरा देती थी श्रद्धा। दण्ड का भी विधान जरूर था। लेकिन शामलात-देह की रखवाली श्रद्धा पर टिकी थी। इसका बहुत सुन्दर उदाहरण है कुराड नामक गांव।

कुराड गांव में आज भी पुरानी परंपरा के हिसाब से एक बड़े गोचर की रखवाली हो रही है। इसमें न खाई है, न कटीले तार हैं और न किसी विभाग के चौकीदार। लेकिन लम्बे-चौड़े गोचर में एक भी पत्ती, एक भी टहनी की चोरी नहीं होती। समय-समय पर गोचर और ओरण की सीमा पर 'कार' लगाई जाती है। 'कार' मंत्रों और पूजा से पवित्र किये गये दूध, गोमूत्र और गंगाजल का मिश्रण होता है। इसे एक ऐसे धातु के पात्र में, घड़े में डाला जाता है जिसमें नीचे एक छोटा-सा छेद होता है। पात्र का मुंह दो तरफ झूलने वाली रस्सी से बांध कर दो लोग इसे उठाते हैं और तेजी से चलते हैं। इस तरह गोचर की पूरी सीमा पर 'कार' से रेखा खींची जाती है। पीछे पूरा गांव चलता है। मिट्टी में गिरने वाली दूध और गंगाजल की यह बारीक रेखा कुछ ही क्षणों बाद सूख जाती है लेकिन पूरे गांव के मन पर यह अपनी अमिट छाप छोड़ जाती है। 'कार' लगने के बाद सब लोग जमीन से मिट चुकी लेकिन मन में खिंच गई उस अमिट रेखा का पालन करते हैं। कुराड में आज सूखा और गिरा पड़ा पेड़ भी कोई बाहर नहीं लाता, पेड़ काटने की तो बात ही छोड़िए।



कुराड गोचर के
भैरों बाबा





गोचर के कारण खेतों
में फैली हरियाली

लेकिन कुराड जैसे उदाहरण आसपास के अन्य गांव में अब नहीं दिखते। एक समय रहा होगा, जब इस तरह के काम कई गांव में रहे होंगे। शायद सभी गांवों में।

कोई भी अच्छा काम सूख चुके समाज में आशा की थोड़ी नमी बिखेरता है और फिर नई जड़ें जमती हैं, नई कोपलें फूटती हैं। ग्राम विकास नवयुवक मंडल लापोड़िया के प्रयासों से गोचर को सुधारने का यह काम अब धीरे-धीरे आसपास के गांवों में भी फैल चला है। गागरडू, डोरिया, सीतापुर, नगर, सहल सागर, महत्त गांव, गणेशपुरा आदि अनेक गांवों में आज चौका पद्धति से गोचर को सुधारने का काम बढ़ रहा है। सब जगह ऐसे काम की जरूरत है, लेकिन ऐसे काम के पीछे जैसा संगठन, जैसा धीरज चाहिए यदि वैसा न हो तो यह काम खड़ा नहीं हो पाता। आज कोई अस्सी गांवों में यह काम बढ़ रहा है। इनमें से कोई पंद्रह गांवों में यह काफी आगे जा सका है।



सफलता का रहस्य

कुछ गांव लापोड़िया के गोचर विकास के काम को खुद देखने आये तो कुछ जगह लापोड़िया के लोग स्वयं गये। अनुभवों का आदान-प्रदान हुआ और इस तरह यह काम धीरे-धीरे अन्य गांवों में फैल रहा है। लेकिन केवल चौका बनाने





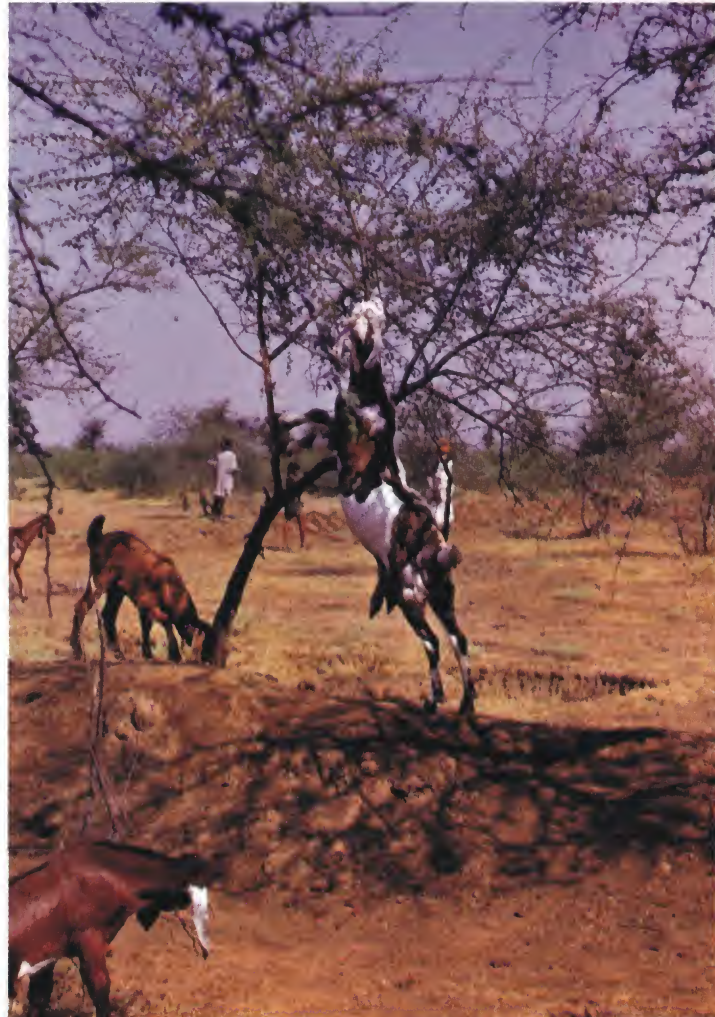
भर से गोचर नहीं संभल पाता। इसकी सफलता का रहस्य समाज के संगठन में छिपा हुआ है। स्वार्थ से ऊपर उठे बिना ऐसा संगठन बन नहीं पाता।

एक गांव में जब गोचर पर काम शुरू हुआ तो वहां के थोड़े से लोगों ने इसका विरोध किया। इन लोगों ने राजनीति और जाति दोनों का खुलकर उपयोग किया। मंत्री से लेकर नीचे तक के अधिकारियों को फोन करवाया कि कुछ 'गुण्डे' गोचर पर कब्जा करने के लिए गोचर विकास का भ्रामक कार्यक्रम लेकर आये हैं। फिर यह मामला अदालत तक भी गया, लेकिन अंत में लोक संगठन काम आया। उसकी नैतिक ताकत के आगे ये लोग झुक गये। जिनकी जीत हुई, वे हारे हुए लोगों के सामने और अधिक झुक गए। इस विनम्रता ने हार-जीत का अंतर मिटा दिया। ऐसे प्रसंग यह भी बताते हैं कि गांव को सुधारने की योजनाओं में सरकार को बिलकुल निष्पक्ष रह कर काम करना चाहिए। आरोप सामने आये तो धीरज के साथ उनकी जांच की जानी चाहिए और गोचर जैसे मामलों में अपनी कानूनी जिम्मेदारी जाति और राजनीति से ऊपर उठकर निभानी चाहिए।

गोचर में
सबका स्वागत है

सिर्फ यहां ही नहीं, पूरे देश में गोचर के साथ अच्छी मानी गयी सरकारों ने भी कई तरह की गड़बड़ियां की हैं। वोट की राजनीति गांव के भूमिहीन और दलित का प्रश्न उठाकर गोचर की जमीन खेती के लिए बांटकर वाहवाही लूटती है। देश के नेतृत्व को भी समझना चाहिए कि कमजोर माने गये वर्ग के पास जो बकरियां हैं, जो पशु हैं आखिर वो कहां चरने जायेंगे? लापोड़िया और उसके आसपास के गांवों का यह पक्का अनुभव है कि गोचर विकास का लाभ ऐसे परिवारों को भी भरपूर मिलता है। इसीलिए धीरे-धीरे अब राजस्व के अधिकारी भी इस क्षेत्र में ग्राम विकास की योजनाओं में गोचर पर भी ध्यान देने लगे हैं।

राजस्व बोर्ड के अध्यक्ष और ग्रामीण विकास सचिव से लेकर कई जिलों के कलेक्टर, तहसीलदार, बी.डी.ओ. अब लापोड़िया के काम को एक आदर्श काम मानकर यहां सीखने आते हैं और फिर अपने-अपने क्षेत्रों में शासन की विभिन्न





परियोजनाओं के माध्यम से इस कार्यक्रम को उठा रहे हैं। लापोड़िया के इस काम का प्रभाव अब उच्च स्तर पर बनने वाली नीतियों पर भी कुछ हद तक पड़ने लगा है। इसे अकाल राहत में भी शामिल किया जा रहा है। अब राज्य सरकार ने इसे गरीबी मिटाने वाले कार्यक्रम से जोड़ा है।

लापोड़िया के इस सफल प्रयोग ने कुछ और बातों की तरफ भी ध्यान खींचा है। सन् 1998 के बाद से देश के कोई आधे हिस्से में अकाल पड़ता रहा है। अनेक हिस्सों में औसत से आधी और कहीं-कहीं उससे भी कम वर्षा हुई है। इस भयानक परिस्थिति से निपटने के लिए अनेक संस्थाओं ने और फिर उनके प्रभाव से सरकारों ने भी वर्षा जल संग्रह के लिए तरह-तरह की योजनाएँ बनायी हैं और उन्हें पूरा करने के लिए कदम उठाये हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में पुराने तालाबों को ठीक करने और नये तालाब बनाने की तरफ ध्यान गया है।



गोचर और अकाल निवारण

लेकिन गोचर विकास का यह काम बताता है कि तालाबों में तो पानी रोकना ही चाहिए, साथ-साथ इसी उद्देश्य को और आगे बढ़ाने के लिए गोचर की तरफ भी ध्यान देना चाहिए। यह काम दो तरह से गांव को अकाल से लड़ने के लिए

सबके लिए खुला
लेकिन अनुशासन में
बंधा है गोचर



मजबूत बनाता है। गांव में गोचर का क्षेत्रफल प्रायः तालाब के भराव से कई गुना ज्यादा होता है। यहां वर्षा के एक मौसम में 8-9 इंच पानी एक बड़े भू-भाग में तेजी से बहकर बर्बाद जाने के बदले चौका पद्धति से एक कोने से दूसरे कोने तक धीरे-धीरे भूमि में समाता जाता है। इस तरह यह भूजल को उठाता है, सूखी धरती का पेट भरता है, उसकी प्यास बुझाता है और फिर अच्छी नमी के कारण गोचर में घास की जाजम बिछाता है। इससे गांव के पास अकाल से लड़ने के लिए पानी भी रहता है और पशुओं के लिए पर्याप्त घास भी।

आज लापोड़िया गांव में कोई 200 घरों के बीच बस्ती और उनके खेतों में 103 कुएं हैं। 6 साल के अकाल के बाद भी आज इनमें से हर कुएं में पर्याप्त मात्रा में पानी उपलब्ध है। इस छिपे खजाने का उपयोग लापोड़िया गांव फसल उगाने के अलावा अपने पशुओं के लिए हरा चारा पैदा करने के काम में भी लगा रहा है। अकाल के जिन दिनों में आसपास के दूसरे गांव में बाहर से सूखा चारा लाना पड़ा है या अपने पशुओं को राहत शिविरों में भेजना पड़ा है, वहीं लापोड़िया का लगभग हर घर अपने खेत के एक छोटे-से टुकड़े पर, आधा बीघा, एक बीघा पर अपने पशुओं के लिए हरा चारा उगाता है। खेत के इस टुकड़े की सुरक्षा के लिए कोई चार-पांच फुट ऊंची मिट्टी की एक दीवार भी बनाई जाती है। इस चारे को उगाने के लिए पानी उनके कुएं से आता है। साधारण खेतों में अकाल के बीच खड़ी फसल का हरा रंग देखकर जो अचरज होता है, उसी खेत के साथ मिट्टी के किलेनुमा टुकड़े में दुगने गहरे हरे रंग का चारा देखकर वह अचरज बिल्कुल चौगुना हो जाता है।

अपने गोचर और तालाबों में श्रम का पसीना बहाकर जो पानी रोका गया है, उसने लापोड़िया को बहुत हद तक हरा बना दिया है। अब इस हरियाली का रंग लोगों के मन पर भी दिखने लगा है। अब उन्हें लगता है कि उन्होंने लापोड़िया में इन सब कामों को करने के लिए कुछ वर्ष पहले जो संघर्ष किया था, जो आंदोलन चलाया था वही सब दूसरे गांवों में करना जरूरी है। गांव के मन को हरा बनाने का काम आनन्द और सहयोग की नींव पर खड़ा होना चाहिए। आज लापोड़िया के लोग गोचर की परंपरा के बारे में पुरानी भूल चुकी बातों को तरह-तरह से इकट्ठा कर रहे हैं, पुराने नियम और कायदे समझ रहे हैं। इनमें से क्या दोबारा अपनाने लायक है, इसका परीक्षण कर रहे हैं।



अकाल से लड़ने के लिए पानी भी चाहिए और चारा भी





गोहदः बेहद कड़ा अनुशासन

गोचर शब्द गाय को, गोवंश को केन्द्र में रखकर बना है। लेकिन गोचर में गाय, बैल के अलावा ऊंट, भेड़ और बकरी भी चरने आ सकती हैं। प्रतिबंध यदि है तो केवल पड़ोसी गांव के पशुओं के लिए। उसका सीधा-सा कारण बस यही है कि पड़ोसी गांव को भी मेहनत कर अपना गोचर इतना अच्छा बना लेना चाहिए कि उनके पशुओं को दूसरे गोचर में जाने की जरूरत न पड़े। एक गांव के पशु अपने गोचर की हद से बाहर चरने के लिए दूसरे गोचर में नहीं जा सकते— इसका सबसे बड़ा उदाहरण राजस्थान के भरतपुर क्षेत्र में मिलता है। इस क्षेत्र में एक स्थान का नाम 'गोहद' है। ऐसा कहा जाता है कि यहां तक श्रीकृष्ण अपनी गायें चराने आ सकते थे। लेकिन इसके बाद उनकी हद, सीमा समाप्त हो जाती थी। हमारे गांवों ने पशुपालन का जो व्यवस्थित ढांचा खड़ा किया था, उसमें तीन लोकों के स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण के लिए भी उतने ही कड़े नियम लागू किये थे, जितने कि साधारण पशुपालकों के लिए होते थे।

गोचर के उपयोग का यह व्यवस्थित ढांचा अपने गांव, पड़ोसी गांव और दूर के गांव की भी जरूरतों को ध्यान में रखकर बनाया गया था। बाहर के पशुओं का झुंड गांव के गोचर से गुजर सकता था, उन पर रोक नहीं थी। लेकिन वे छोटे से

सूखे चारे का खजाना
भूरियां



गांव को, छोटे से गोचर को पूरी तरह से न उजाड़ें इसकी सावधानी रखी जाती थी। वे गोचर से गुजर सकते थे, चर सकते थे। खेली में पानी पी सकते थे, लेकिन लम्बे समय तक चरने के लिए उसी गांव के खेतों में किसान के साथ सहमति के आधार पर बैठाये जाते थे। इस बिठाई का मतलब था कि खेतों में फसल कटाई के बाद बचे डंठल ये पशु चर सकते हैं। खेतों में इनकी उपस्थिति से भूमि को मेंगनी, गोबर और मूत्र से कीमती खाद मिलती थी।

देश के बहुत बड़े हिस्से में पशुपालक, खासकर भेड़ पालक अपने बड़े-बड़े झुंडों को लेकर अलग मौसम में अलग-अलग रास्तों से घूमते रहते हैं। भेड़ों के इन बड़े रेवड़ों की आवक-जावक का पूरा नक्शा फसलों की कटाई के कैलेंडर से जोड़कर रखा गया था। सैकड़ों, हजारों भेड़ों के झुंड एक जगह का चारा समाप्त होने पर इस तरह दूसरे क्षेत्रों में पहुंचते थे और उन खाली खेतों में बैठकर उन्हें अपने मल-मूत्र से सुन्दर खाद देते थे।

किसान और भेड़ पालक के बीच का यह संतुलित रिश्ता अब नई फसलों और नये कैलेंडर के कारण टूट चुका है और उसी अनुपात में इन दोनों समुदायों के बीच भयंकर तनाव भी देखने में आ रहा है। मध्यप्रदेश और राजस्थान की सीमा पर हर वर्ष इनमें संघर्ष भी होने लगा है। अब यह दुखद परिस्थिति धीरे-धीरे राजस्थान के क्षेत्रों में भी आने लगी है।

लापोडिया का गोचर संरक्षण आंदोलन और अब उसका दूसरे गांवों में विस्तार हमें यह भी बताता है कि बाहरी शत्रु से लड़ना अपेक्षाकृत कम कठिन काम है। लेकिन जब लड़ाई अपनों से, अपने ही गांव के लोगों से हो, अपने रिश्तेदारों से हो तो कुछ दूसरे ही तरह की परीक्षा सामने होती है। इसमें संघर्ष के स्वरूप को, विरोध को नारे, धरना, जुलूस से ऊपर उठना पड़ता है। अपने को सुधारते हुए गांव को सुधारना होता है। सबको मालिक बनाते हुए उनमें सेवक की भावना भी आ सके— यदि ऐसा करना हो तो संघर्ष करने वालों को भी सेवक की भूमिका में आना होता है।

आज लापोडिया में अनेक किसान गांव के उठे हुए जलस्तर के कारण एक बीघा-दो बीघा में हरा चारा ले रहे हैं। यह कोई छोटी अवधि की फसल नहीं है। वर्ष भर, बारह मास यानि तीन सौ पैंसठ दिन लगभग एक मन चारा रोज निकालना अपने आप में एक बड़ी उपलब्धि है। वह भी उस गांव में जहां अकाल का छठवां साल बैठा हो।



तरकश के कई तीर

किसान पशु पालन में कई बातों का ध्यान रखते हैं। जिस तरह से हम लोग एक-सा भोजन खाते-खाते तंग आ सकते हैं, उसी तरह पशु भी हैं। इन्हें वर्ष भर





वर्षा में चौके का शृंगार

अलग-अलग ढंग से चारा देने का पूरा कैलेण्डर गांव समाज ने व्यवस्थित रूप से बनाया था। गोचर और चौइली तथा बीड़ के अलावा किसानों के अपने घरों में, बाड़ों में 'भुखारा' और 'भुरियां' बनाया जाता रहा है। भुखारा कोई सात-आठ हाथ चौड़ा इतना ही ऊंचा और 50-70 हाथ लम्बा एक कच्चा ढांचा होता है। इसमें तीस चालीस ट्राली चारा वर्ष भर के लिए जमा रखा जाता है। एक ट्राली में कोई 40 मन आता है। भुखारा में कटा हुआ चारा जमा किया जाता है। यह गुवार, बाजरा, ज्वार और गेहूँ की फसलों के डंठल और भूसे से बनता है। इस ढांचे में लम्बाई वाले हिस्से में खिड़कीनुमा दो झरोखे होते हैं, जिन्हें खोलकर जरूरत के अनुसार चारा निकाला जाता है। शेष चारा पूरे वर्ष भर सुरक्षित रखा रहता है। भुरियां में साबुत चारा एकत्र किया जाता है। इसका आकार कोई 25 फुट ऊंचा और 15 फुट चौड़ा भौरेनुमा होता है। इसमें कटी फसल के डंठल इस विशेष ढंग से जमाए जाते हैं कि बिलकुल खुले आकाश के नीचे रखे रहने के बाद भी यह चारा भींगता नहीं, सड़ता नहीं। ऊपर से लेकर नीचे तक की चिनाई उसी चारे से होती है। फिर भी एक बूंद पानी भीतर नहीं जाता है। इस व्यवस्था के माध्यम से पशुओं को पूरे साल भर तक सार्वजनिक स्थानों के अलावा घर से भी पौष्टिक खुराक मिलती रहती थी।

ऊपर बताए गये ढांचों के अलावा एक और ढांचा बनाया जाता था। उसका नाम था 'बागर'। यह ढांचा आजादी से पहले तक चलन में था। फिर ठिकानेदारी, रियासतों के राज जाने के बाद यह भी चलन से हट गया।





बागर की सुरक्षा के लिए बाड़ लगाई जाती थी। इसमें कोई पच्चीस हाथ चौड़ा चालीस हाथ लम्बा और 15 हाथ ऊंचा घास का ढेर होता था। इसलिए इसे गांव की मुख्य आबादी से थोड़ा हटकर बनाया जाता था— कभी आग आदि की दुर्घटना हो ही जाय तो बस्ती पर उसका बुरा असर न पड़े। इस व्यवस्था में भी कोई रखवाला नहीं होता था और यह भी किसी की निजी सम्पत्ति नहीं मानी जाती थी। पूरा गांव चलते-फिरते इसकी रखवाली करता था।

बागर एक तरह का चारा बैंक, कोष होता था जो संकट के समय में खुल जाता था। तब इसमें से जो जितना चारा लेता, उतना ही चारा अच्छी फसल आने पर इस कोष में वापस भर देता था। बागर के कोष से चारा देते समय तराजू का उपयोग नहीं होता था। यह गांव की अपनी व्यवस्था थी और अपने लोगों के लिए थी। फिर भी चारा लेते और देते समय एक मोटा हिसाब रखा जाता था। इसके लिए पगड़ी का उपयोग होता था। प्रति परिवार सात हाथ का बंडल पगड़ी में बंध जाय— इतना चारा दिया जाता था। और ऐसे ही सात हाथ की पगड़ी में जितना बंडल बंधता है, उतना वापस हो जाता था। अकाल से लड़ने के लिए गांव की इस व्यवस्था में, तरकश में कई तीर होते थे। जैसे चारे की व्यवस्था थी, उसी तरह संकट के दौर को पार करने के लिए अनाज का भंडार भी जमा किया जाता था। इसके लिए खाई नामक एक ढांचा बनाया जाता था। यह व्यवस्था भी रियासत के बाद पूरी तरह से टूट चुकी है।

6 साल के अकाल
को झुठलाती अन्रसागर
से सिंचित फसल





धरती के पूजन से
एकाकार हुआ समाज



अकाल पाटती थी खाई

खाई एक तरह का सूखा कुआं होता था। इसमें अनाज का भंडार सुरक्षित रखा जाता था। हरेक खाई कोई 10 से 15 हाथ गहरी और 7 हाथ के व्यास की गोलाई लिए हुए होती थी। यह गोलाई नीचे से ऊपर आते समय थोड़ी कम होती जाती थी। पूरा अनाज भर जाने पर इसे मिट्टी के घोल से ढक्कन बनाकर बन्द कर दिया जाता था। सभी खाईयां थोड़े ऊंचे स्थानों पर बनाई जाती थीं, ताकि बरसात की नमी और पानी इनमें न जा पाये। खाई के भीतर बहुत सावधानी से गोबर और मिट्टी से लिपाई की जाती थी। इसमें कुछ भाग राख का भी होता था ताकि अनाज में कीड़े न लगें।

लापोड़िया गांव में आजादी से पहले तक बीस खाईयां थीं। अच्छी फसल आने पर हर घर से इसमें एक निश्चित मात्रा में अनाज डालकर बन्द कर दिया जाता था। जब तक गांव की

सभी खाईयां भर नहीं जाती थीं, तब तक गांव से एक दाना भी बाहर बेचा नहीं जा सकता था। इन खाईयों में तीन वर्ष तक अनाज सुरक्षित रखा जाता था। यदि इस अवधि में अकाल नहीं पड़े तो खाई खोलकर उसका अनाज वापस किसानों में वितरित हो जाता था। यदि अकाल आ ही गया तो ये खाईयां उस संकट को सहने के लिए खोल दी जाती थीं। अकाल का संकट आने पर खाई खोलने का निर्णय गांव के दो पटेल और ठिकानेदार की एक छोटी सी बैठक में तुरन्त लिया जाता था। उसके बाद गांव के घरों की जरूरत देखते हुए एक के बाद एक खाई खुलती जाती थी और अनाज का वितरण होता जाता था। एक मोटे हिसाब से प्रति परिवार प्रति माह कोई एक मन अनाज बांटा जाता था। अकाल समाप्त होने पर अच्छी पैदावार आने पर इन्हीं परिवारों से चालीस किलो के बदले 50 किलो अनाज वापस लेकर फिर से खाई में सुरक्षित रख दिया जाता था।

गांव की बीस खाईयों में से केवल चार खाई ठिकानेदार के गढ़ के भीतर थीं। शेष 16 गांव के सार्वजनिक स्थानों पर बनी थीं। इन सोलह खाईयों की सुरक्षा की जिम्मेदारी उनके सामने पड़ने वाले घरों की होती थी। ये परिवार भी सभी जातियों के और सभी तरह की आर्थिक स्थिति के होते थे। एक खाई मंदिर के सामने थी और उसकी रखवाली पुरोहित खुद करते थे। भगवान की पूजा में भक्तों





की पूजा, गांव की पूजा भी शामिल रहती थी। गढ़ के भीतर चार खाई इसलिए रखी जाती थीं कि कहीं किसी हमले में गांव की खाईयों में आग लगा दी जाय तो कम से कम गढ़ की चार खाई सुरक्षित रह सकेंगी। आज भारतीय खाद्य निगम जैसी व्यवस्था गांव का अनाज गांव से बाहर निकालकर कहीं दूर शहरों में जमा करता है और संकट के समय उसे ठीक समय पर गांवों में वापस नहीं कर पाता। खाई खाद्य सुरक्षा का बेहतर प्रबंध था।



गोचर का प्रसाद

आज 200 घरों का छोटा-सा लापोड़िया गांव पशुपालन और किसानों के बीच टूट चुके इन संबंधों को जोड़ने का एक बड़ा काम कर रहा है। 6 साल के अकाल के बाद आज इस गांव में दूध का खूब उत्पादन हो रहा है। इसमें भी संतुलन बनाकर रखा गया है। अपने घर की जरूरत का दूध बचा लिया जाता है। शेष मात्रा जयपुर की डेयरी को दी जाती है। अकाल के बाद भी लापोड़िया में जमा होने वाला दूध डेयरी के अन्य केन्द्रों से मात्रा में भी ज्यादा है और गुणवत्ता में भी। लापोड़िया के पास शुद्ध चारा है। यहां ज्वार, बाजरा, ग्वार और हरे चारे के उत्पादन में किसी भी प्रकार की रासायनिक खाद और कीटनाशक बिलकुल नहीं डाला जाता। इसलिए आज शुद्ध दूध है, अच्छी फसल है और इस वर्ष 2004 में लगभग हर घर के पास भुरियां हैं। कुछ के पास एक से भी ज्यादा। इन भुरियों में

देवउठनी ग्यारस पर
उठा समाज



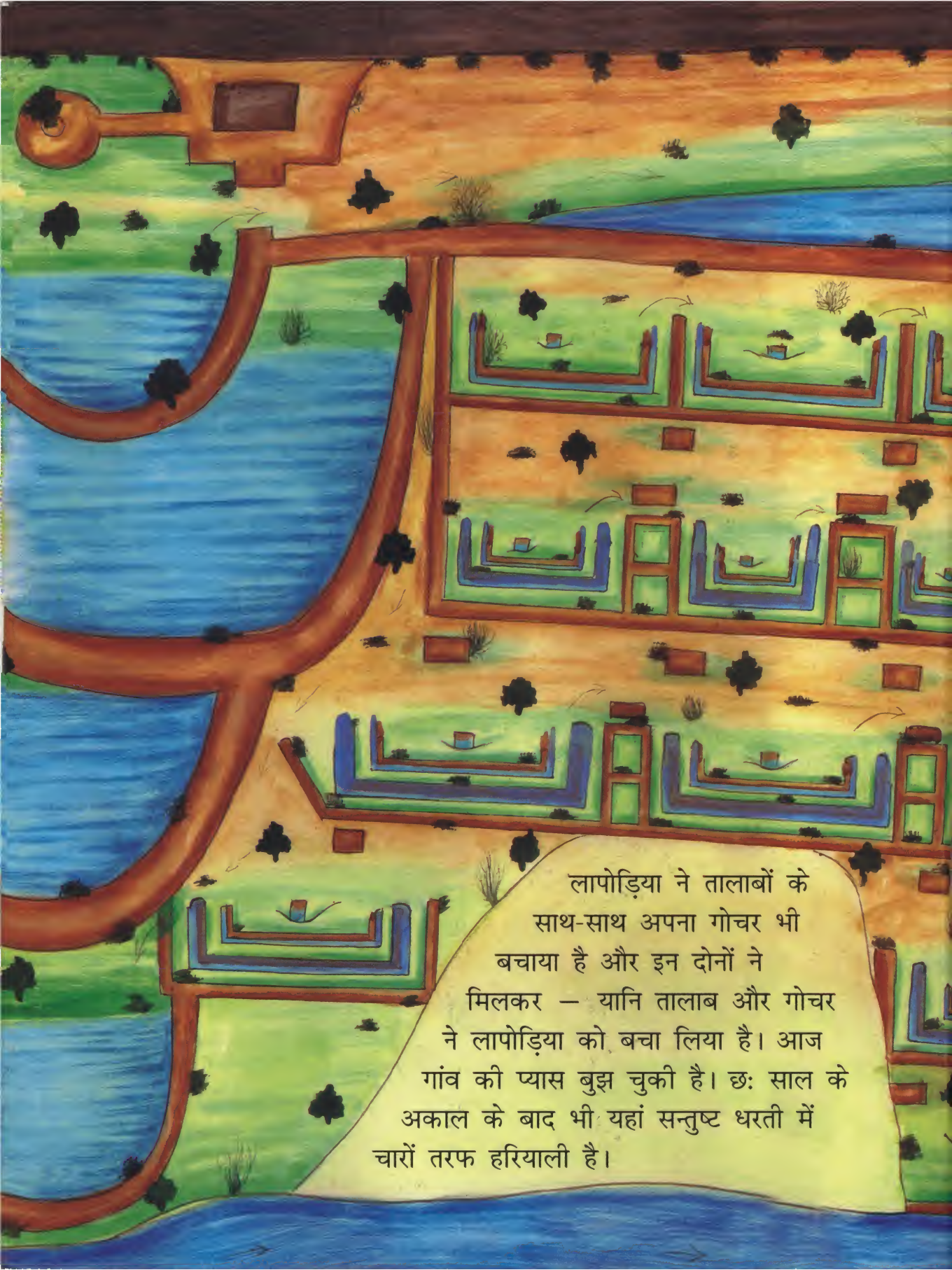


फसल कटाई के बाद बचे डंठल चारे की तरह संग्रह किये जाते हैं और इनका उपयोग अगले किसी संकट के दौर में होता है।

लापोड़िया ने तालाबों के साथ-साथ अपना गोचर भी बचाया है और इन दोनों ने मिलकर— यानि तालाब और गोचर ने लापोड़िया को बचा लिया है। आज गांव की प्यास बुझ चुकी है। छः साल के अकाल के बाद भी यहां सन्तुष्ट धरती में चारों तरफ हरियाली है। कोयल की गूंज है तो साधारण-सी मानी जाने वाली चिड़ियों की असाधारण चहचाहट है।

लापोड़िया गांव में किसी भी सड़क, गली या चौराहे का नाम किसी जन-नायक के नाम पर नहीं मिलेगा। गांव में कहीं भी गांधीजी की मूर्ति नहीं है। लेकिन आज पूरा गांव गांधीजी के आदर्शों का मूर्तरूप बनने का प्रयत्न कर रहा है। गांव के पुराने झगड़े आपसी बातचीत से समाप्त हो चुके हैं। पुलिस और कचहरी के चक्कर लगाने के बदले अब लापोड़िया के लोग साल भर आने वाले त्योहारों में मिलकर नाचते-गाते हैं, गुलाल उड़ाते हैं। शहनाई और ढोल-नगाड़ों की आवाज सुनाई देती है। आनन्द की इस वर्षा के बीच में आप किसी भी दिन पायेंगे कि गांव के बुजुर्ग— रामकरण दादा, कालू दादा, रामकरण मामा और उनके साथ अगली पीढ़ी के युवक-युवतियां आसपास और दूर के गांवों में निकल गये हैं, ताकि वहां भी प्रकृति के इस पूजन का काम प्रारंभ हो सके और वहां भी लापोड़िया की तरह तालाब, गोचर का प्रसाद आनन्द से बंट सके। लापोड़िया में अच्छे विचारों से अच्छे कामों का श्रीगणेश हो चुका है।





लापोड़िया ने तालाबों के साथ-साथ अपना गोचर भी बचाया है और इन दोनों ने मिलकर — यानि तालाब और गोचर ने लापोड़िया को बचा लिया है। आज गांव की प्यास बुझ चुकी है। छः साल के अकाल के बाद भी यहां सन्तुष्ट धरती में चारों तरफ हरियाली है।